UNIVERSAL
LIBRARY

OU_180455

UNIVERSAL
LIBRARY

OSMANIA UNIVERSITY LIBRARY

Call No. H S1·8|N14Ch Accession No. G.H.1086

Author नागेन्द्र

Title छदमयी |1949

This book should be returned on or before the date last marked below.

छंदमयी

तुमने नयनों में मदिर नयन ये उलझाकर,
बौद्धिकता का चिर-गर्व आज शत-खण्ड किया।

नगेन्द्र

प्रकाशक
गौतम बुक डिपो, दिल्ली।

प्रकाशक—
गौतम बुक डिपो,
नई सड़क, दिल्ली

मूल्य : दो रुपया
प्रथम बार : १९४९
सर्वाधिकार सुरक्षित।

मुद्रक—
श्यामकुमार गर्ग,
हिंदी प्रिंटिंग प्रेस,
क्वीन्स रोड, दिल्ली।

भूमिका

अब तक मैं मनोविज्ञान, कल्पना और अनुमान के सहारे न जाने कितने नवीन प्राचीन कवियों का व्यक्तित्व-विश्लेषण कर चुका हूँ। परन्तु इन कविताओं का लेखक पहला व्यक्ति है जिसके अन्तर्बाह्य से मैं पूर्णतः परिचित होने का दावा कर सकता हूँ। इसकी शक्ति और दुर्बलता मुझसे छिपी नहीं है, और मुझे लोभ होता है कि निर्मम होकर इसका भी एक वस्तु-परक विश्लेषण आपके सम्मुख उपस्थित कर दूं। परन्तु मन कहता है कि आत्म-परीक्षा में कौन पड़े ?

इन कविताओं की पहली सार्थकता तो यही है कि इनके द्वारा रचयिता को आत्माभिव्यक्ति का अपूर्व सुख प्राप्त हुआ है। अब, यदि आपको भी इनसे यत्किञ्चित सुख मिल सका तो यह इनकी दूसरी सफलता होगी।

इन कविताओं के रचना-काल की परिधि काफ़ी विस्तृत है—सन् १९३३ से '४८ तक।

दिल्ली

नगेन्द्र

विषय सूची

प्रेयसि ! ये आलोचक कहते	१
प्रेयसि ये आलोचक कहते	४
वसंत-श्री	८
मधु-गीत	१०
प्रतिदान	१४
वर्षों में (एक भाव-चित्र)	१६
गीत	१८
जीवन की हार	१९
मुझे मुक्ति दो मेरी रानी !	२०
गीत (एक आरोपण का उत्तर)	२१
बिदा की वेला	२२
रेखा-चित्र	२४
अपने कवि से	२६
बिजली	२९
नारी	३१
शरद की रात	३३
तुमने नयनों में मदिर नयन ये उलझाकर	३५
ओ पुरुष के गर्व !	३७
निस्पृह दुलार	३९
किसने मेरी नींद चुरा ली ?	४१
सोचता हूँ किस तरह जीवित रहे ये प्राण !	४३
आज का कवि	४५

प्रेयसि ! ये आलोचक कहते.....

प्रेयसि ! ये आलोचक कहते, मेरी कविता निस्पंद हुई।

अब भी तो मेरे नयनों का नित ऊषा अभिनन्दन करती।
हाथों में कुंकुम थाल लिए संध्या हँस हँस वन्दन करती।
अब भी इन सोई पलकों पर चुम्बन धर जाती मलय-वात,
मरकत के शत शत दीप जला नीराजन करती मंदिर रात।
रवि की ये लजवंती किरणें अब भी किञ्जल्क बिखेर रहीं,
सोने के अगणित जाल बिछा मेरे प्राणों को घेर रहीं।
सित-वसना चन्दा की रानी चितवन से बरसा सुधा-धार,
चांदी की तरल अँगुलियों से झंकृत कर जाती तार-तार।

अब भी तारों की रहस-कथा, तुमही कहदो, क्या बंद हुई ?
प्रेयसि ! ये आलोचक कहते मेरी कविता निस्पंद हुई।

झलमल मोती के हार, शरद की फेनोज्ज्वल रातें आतीं।
होठों पर मेघ-मल्हार लिए मदमाती बरसातें आतीं।
अब भी वसंत का प्रथम परस वसुधा को पुलका-कुल करता,
शतरंगी मदिरा ढाल, विकच अंगों में यौवन-रस भरता।
भीने रसाल की बौरों से उलझी पिक की काकली मधुर,
कानों में मधु घोलती, झनकते मुग्ध चेतना के नूपुर।
फूलों के तन में हास, हास में सुरभि-रेख अवशेष अभी,
नव रूप और रस, गंध, स्पर्श की मन में चाह अशेष अभी।

इस विश्व-प्रिया की मादक छवि अब भी क्या किञ्चित मंद हुई,
प्रेयसि ! ये आलोचक कहते मेरी कविता निस्पंद हुई।

और नारी ! इस संसृति-मंथन का वह सार अमृत-विष-मदिरा-मय,
जिसके इंगित पर खेल रहे नर के जीवन के सर्ग-प्रलय।
वे अंग वर्तुलाकार खुले-अधखुले मदिर-सुख के सरोज,
लज्जा के बंधन तोड़ उभरता वक्ष, निमंत्रण-मय उरोज।
भादों-से काले केश, लहरता ज्यों सरिता पर अंधकार,
वह अतल नयन-वंकिमा देखती जो प्राणों के आर-पार !
कोरों में स्मिति की रेख ! मधुर वे बिम्बाधर चुम्बन-चर्चित !
नारी-तन ! मानव-चित्र-गीत-कविता द्वारा शत विधि अर्चित।

बढ़ रहा रूप का ज्वार, इधर यौवन की प्यास अमंद हुई।
प्रेयसि ! ये आलोचक कहते मेरी कविता निस्पंद हुई।

: ३ :

जीवन सुखमय, पर पाल रहा सुख को उसका विपरीत भाव।
जितना ऊंचा उसका वैभव, उतना ही गहरा है अभाव।
संक्षिप्त हृदय की परिधि, किन्तु विस्तीर्ण अभावों की माया,
कञ्चन-काया पर चढ़ी मृत्यु की अंधी क्रूर-मलिन छाया।
क्षण-दीप्त मिलन की ज्वाल, वासना का अनन्त पर धूम-दाह,
परिमित जीवन का पात्र, उधर इच्छाओं का बाड़व अथाह!
कटु अर्थ-जन्य क्षुद्रता, स्वजन का कपट, इष्ट का अनाचार,
उद्धत घमण्ड की ठोकर से कुचला मणिधर-सा अहंकार!

कविता के मौलिक स्रोत, कहां इनकी शाश्वत गति बंद हुई?
प्रेयसि! ये आलोचक कहते मेरी कविता निस्पंद हुई।

और फिर, इन सबकी मणि-मौलि प्राणप्रिय! तुम शत जन्मोंका प्रसाद,
मेरे जीवन पर झुकीं देवता का जैसे आशीर्वाद!
तुमने जग की विषाक्त कटुता को बना दिया मधु, अमृत, सोम,
सित गङ्गाजल-सा स्नेह तुम्हारा प्लावित करता रोम रोम।
तुम अक्षय-मङ्गल-मूर्ति तपस्विनि! क्षुब्ध चेतना को विराम,
पाकर तव निस्पृह आत्मदान मेरी लघुता है पूर्ण-काम!
मैं भोग रहा कटु-तिक्त प्राण में पाल रहा शुभ-मधुर भाव,
सुख देना रस माधुर्य, तीव्रता दान कर रहा है अभाव!

उर का प्रति स्पंदन भाव बना, प्रत्येक श्वास-गति छंद हुई!
प्रेयसि! ये आलोचक कहते मेरी कविता निस्पंद हुई॥

प्रयसि ! ये आलोचक कहते.....

प्रेयसि ! ये आलोचक कहते मेरी कविता मृत हुई आज !

ये आलोचक चिर-अकर्मण्य,
करना छीछालेदार दूसरों की जिनका व्यवसाय !
निपट वातुलाचार्य्य !
सदा रचते विचित्र सिद्धांत—
चिरन्तन मूल्य, सामयिक मूल्य, शास्त्रगत मूल्य,
सामाजिक, सामन्तयुगी, पूंजीवादी इत्यादि !
घसीटा गया मनोविज्ञान, मनोविश्लेषण-शास्त्र ।
अपस्मार-पीड़ित लोगों का जो केवल उपचार !
झांकते कवि के चेतन-अवचेतन गह्वर-गर्तों के बीच,
जहां, उसकी जानी अनजानी भूलें पड़ी हुई अवसुप्त ।
नहीं कृति का करते हैं मनन,
न करते किञ्चित अर्थ-विचार,
न करते उसके रस का पान ।
देखते कवि के वस्त्र उतार, देखते मन की जेब टटोल
खोलते सीमन सभी उधेड़ बिचारे कवि की, उसके पितृ-वंश की,
देश जाति की ।

किन्तु यदि इतने पर भी,
फ्रॉयड के सिद्धांत नहीं निभ पाते—
तो झट आलोचक महाराज, स्वयं अपने ही मन के रोग
रोप देते उसके अवचेतन मन पर
जहां पर केवल उनकी पहुँच !
और वह कवि, भीतर-बाहर से बिल्कुल ठीक
सभ्य, व्यवहार-कुशल, नहीं करता जो रञ्चक चूक चुका लेने में पूरी फ़ीस
कलात्मक रंग ढंग से;
उसे सुन हो अत्यन्त गभीर, सोचता
"क्या सचमुच ही मेरा मन है रुग्ण ?
सत्य ही क्या कुण्ठित इच्छाएं मेरी मुझे हुई वरदान ?

इधर द्वन्द्वात्मक भौतिकवाद—
वर्ग-गत राजनीति का तर्क।
बिना-पैसे वालों का पैसे-वालों से भिड़ने का शस्त्र,
कूद आया कर के घन-नाद
'दास कैपीटल' की ले ढाल,
नुकीले अर्थ-शास्त्र के वाक्य-बाण।
और हिन्दी के लेखक दीन
बने सब डर कर शोषित-वर्ग—
ताकते मज़दूरिन के अंग अप्सरा को दे कर के बाद।

उलझते अर्थ-शास्त्र से, राजनीति से।
'अहित कर यू० ऐस० ए० की नीति,
और मार्शल के हैं घातक विचार
अरे जनता के कवि ! तुम करो प्राप्त आदर्श
रूस की राजनीति से, अर्थ-नीति से।
नहीं तो श्रीयुत रामविलास
अखाड़े में लेंगे ललकार।

शास्त्र के पण्डित और विचित्र !
खोज लाते अद्भुत सौन्दर्य-बोध,
वक्रोक्ति, रीति, ध्वनि, चमत्कार अर्थ के उक्ति के शत-सहस्र !
अलङ्कारों के उलझे जाल खोल कर फैलाते प्रस्तार !
बिचारा कवि होकर हत-बुद्धि
चकित-मति, विस्मित आंखें फाड़
दुबारा पढ़ता अपना काव्य,
और कहता ये सारी बात कल्पना में भी आई नहीं।
किन्तु आलोचक जी तत्काल
डाल वात्सल्य-पूर्ण मुस्कान—
पीठ पर रखकर उसकी हाथ
बताते साधिकार—"भोले कवि,
तुम अनजान अभी अपनी गुरुता से, क्षमता से।"
नम्र कवि बरबस दांत निकाल
निरुत्तर होकर जाता बैठ—
बिचारा 'हां' कर सकता नहीं, किन्तु 'ना' भी कर सकता नहीं।

: ७ :

पूछता मैं तुम से साहान :
शुक्र के अनुज समीक्षक-वर्य्य !
कभी क्या तुमने कविता लिखी—
कहानी, एकांकी, नॉविल का कोई परिच्छेद,
नाटक का कोई दृश्य !
या कि अनुवाद-मात्र,
(मूल-लेखक का देकर नाम, न हो अपना ही देकर सही ?
कभी क्या किया किसी से प्यार ?
मदिर नयनों में भर कर चाह भूल से कभी निहारा तुम्हें किसी तरुणी ने ?

हृदय में सहा कभी क्या दर्द ?
जवानी की आहुतियाँ डाल
पुण्य देश के यज्ञ में, गये कभी क्या जेल ?
मजूरों की बस्ती में घूमे हो दुपहर में नंगे पाँव ?
नहीं ! फिर क्या जानो तुम क्या होती है
तीव्र प्रेरणा काव्य-सृजन की
मधुर वेदना काव्य-प्रसव की ?
जिसे कह नित्य 'क्रिएटिव अर्ज
दूसरों को बहकाते रहे, समीक्षाचार्य्य !

❀ ❀ ❀ ❀

न, प्रिय तुम होना तनिक उदास,
पड़ेगा मुझ पर नहीं प्रभाव !
जानता हूं इनके सारे रहस्य,
हूं सीख गया सारे हथकण्डे,
आखिर आठ बरस से मेरा भी न अन्य व्यवसाय ?

वसंत-श्री

क्षितिज पार रंगीन लोक है जहां स्वप्न-परियों का विभ्रम,
सुरभि-श्वास के व्यजन डुलाकर हरता मनके सुख दुख का श्रम।
उस मधु-वन से हे मधु--भागिनि ! भ्रमरों के स्यन्दन पर चढ़ कर,
वत्सर में बस एक बार ही, आती हो क्या प्रियतम के घर ?

अलकें खुली हुई रेशम की, नयनों में चित्रों की माया,
प्राणों में मधु-पुलक छके अधरों पर मधु-आसव की छाया।
सौरभ-स्रस्त वसन आकुल है, केशर-अंग चमकते सुन्दर,
नील यवनिका हटा गगन की चली आ रहीं लज्जा मंथर।

बांयें कर मधु-पात्र सुशोभित छलक रहा जिससे जीवन-रस,
मधु-माधव के पंख पसारे, उड़ती जगती पीने बरबस !
वायु-तरङ्गों से रङ्गों की छवियाँ लिपट रहीं हँस हँस कर।
एक नया संसार बसाने आती हो क्या प्रियतम के घर ?

सखि, एकांत पुजारिनि-सी तुम मन्दिर के पथ में पग धरतीं,
चित्रित दीप जला सुमनों के आईं मग को जगमग करतीं।
रेखा-चित्र प्रकृति का फीका पड़ा हुआ था एक बरस से,
तुमने अमर कला की देवी ! सींच दिया रंगों के रस से।

: ६ :

जग ने देखा कृषक-बालिका-सी तुम अल्हड़ बैठीं बन में,
गूंथ पीत सरसों कबरी में सिहा रही हो अपने मन में।
वन्य गीत बिन-सधे कण्ठ से निकल-निकल फैले अग जग में,
पतझड़ का उर चीर भर रहे पुलक, श्वास, कम्पन रग रग में।

गाओ गाओ हे मधु-वासिनि जग-जीवन में सौरभ भर दो,
कुंकुम-चूर्ण चला मायाविनि! भू की रज को सोना कर दो।
गाओ हाँ, गाती ही जाओ जीवन का मधु-स्रोत चिरंतन,
पीले पत्रों की छाया में बहता रहता है नित नूतन!

१९४०

मधु-गीत

आज नव मधु-ऋतु आई प्रान !
आज न कवियों के अधरों में व्यथित विरह के गान !

ले वासन्ती-तूली नव-रवि
भर भर जाता नव-रँग नव-छवि,
झूल गया नभ के परदे में स्वर्ण-जगत छविमान !
आज नव मधु-ऋतु आई प्रान ।
आज न पिकियों के अधरों पर तृषित विरह के गान !!

प्रकृति-वधू के शून्य हृदय से
बिखर पड़े नवगान प्रणय के,
मचल उठा अंचल में यौवन कर मधु-मदिरा पान ।
आज नव मधु-ऋतु आई प्रान !
आज न छवियों के अधरों पर असित विरह के गान !!

: ११ :

सुरभि-थके पलकों से अपने
लगे देखने तरु-तृण सपने
गूंथ दिया हँस-हँस मधु-श्री ने सुरभित एक वितान।
आज नव मधु ऋतु आई प्रान!
आज न कलियों के अधरों पर चकित विरह के गान!!

आओ प्रिय हम गूंथें माला,
मै वसन्त, तुम प्रिय वनबाला,
प्रणय-परस से आज परस्पर भूलें जग का ज्ञान!
आज नव मधु-ऋतु आई प्रान!!
आज न कवियों के अधरों पर व्यथित विरह के गान!!

१९३५

मधु का दिन

मधु का दिन आया !
ऋतु-पति ने—
लो, तान कान तक स्वर्ण-धनुप,
वसुधा के मांसल अंगों मे
भर दिये अनेकों केशर-शर !

मधु का दिन आया !
दिन कर ने—
कामातुर होकर चुपके-से,
अज्ञाता प्रकृति-वधू तन से
लो खींच लिया नीहार-वसन !

मधु का दिन रे,
गुनगुना उठी
मेरी कविता मधु-अभ्यासी,
जीवन के विगत वसंतों की
लेकर कितनी सुधियाँ प्यासी !

: १३ :

जब प्रथम बार तव अञ्चल में,
लालसा-भरा रच प्रणय-गीत,
शंकित मन, कम्पित हाथों से—
था बांध दिया मैं ने सभीत।

कँप गये लाज से रँगे नयन
फूटी गुलाब-सी श्रवण-कोर,
मैं ने अनजाने चूम लिया
पुलकित उंगली का उष्ण छोर !

तुम लाज-जड़ीं, मैं अपराधी—
हो गया मदिर क्षण में प्रमाद,
धुल गई लाज, धुल गया दोष,
तुम बोल उठीं 'प्रिय, धन्यवाद !'

वह दिन फिर आया, पर तुम हो
मेरे गीतों के परे आज।
हम दोनों के है बीच अड़ा
नैतिक विवाह-बंधन, समाज !

* * * *

प्रतिदान

कवि दूर बसा था कहीं—
और वह बाला थी अनजान उसे।
मन होता था आकुल चञ्चल—
खल रहा एक व्यवधान उसे।
क्षण में पूर्व-स्मृतियाँ जागीं
वह खिंची स्वप्न-निधि-सी आयी
ज्यों चीर आवरण तामस का
ऊषा ने लेली अँगड़ाई!
मिलने से पहले नयन मिले
अन्तर में मीठी हूक उठी,
रोमों में पुलक, पुलक में मधु,
प्राणों में कोयल कूक उठी।
छिप गया ठिठक कर अपने में
उन उमड़ी आँखों का पानी।
झुक गया स्वयं छवि के आगे
रे, कवि का मस्तक अभिमानी।

: १५ :

वह मुग्धा थी, कहती ही क्या ?
पर आतुर थी, सहती भी क्या ?
होठों के दोनों पुलिन डुबो
वह गई एक मुसकान उसे।
कवि दूर बसा था कहीं
और वह बाला थी अनजान उसे !!

वर्षों में—

(एक भाव-चित्र)

तुम मिलीं आज प्रिय वर्षों में
मुझको कविता मिल गई आज।
मेरे आलोचक मानस में
फिर उमड़ा भावों का समाज!

मैंने तुमको राका देखा
पर रोग-क्षीण तुम दूज बनीं।
ज्यों तीक्ष्ण शाण पर कट-छँट कर
उज्ज्वल-तर बनती हीर-कनी।

रूखे कच छोटा-सा आनन
गहरी आंखों का तीखा-पन
मेरे अपलक जड़ नयनों में
गड़ कर करता है विह्वल मन।

वह प्रिय-परिचित मुसकान
आज फीके होठों में घुल जाती
मानो मुरझाये फूलों पर
चन्दा की रेख तरस खाती।

: १७ :

चिर कातर-सी उस चितवन ने
पी कर नभ का सञ्चित अभाव
प्राणों में चञ्चलता भर दी
वह चले उमड़ कर सुप्त भाव !

तुम मिलीं आज प्रिय वर्षों में
मुझको कविता मिल गई आज !

गीत

आज कैसे गीत गाऊँ ?
इस उमड़ती प्राण-धारा को कहां कैसे छिपाऊँ !

शून्य उर में व्योम के हँस कर उषा ने रेख खींची
सुख-सुनहले आंसुओं से रात ने सीमन्त सींची ।
क्या कहा कलि ने भ्रमर से भेद यह कैसे बताऊँ ?
आज कैसे गीत गाऊँ ?

कल सुनहली सांझ जब तुम बाँटने उपहार आईं
लाल होठों में दबा सुख, फेर मुख थीं मुसकराईं
छा गई प्रति रोम में झंकार वह, कैसे सुनाऊँ ?
आज कैसे गीत गाऊँ ?

प्राण के प्रति कोण में री, स्नेह-दीपक जल रहे हैं,
प्रति शिरा से देह की मधु-स्रोत उमड़े चल रहे हैं,
हर्ष-विह्वल हूँ सजनि ! कैसे तुम्हें गा कर रिझाऊँ ?
आज कैसे गीत गाऊँ ?

इस उमड़ती प्राण-धारा को कहां कैसे छिपाऊँ ?

जीवन की हार

मैंने तुमको जीवन हारा।
मेरी मधुर कामना मुझको आज बन गई भीषम कारा!

शैशव से ही एक लालसा बढ़ती जाती थी जीवन की,
ऐसा पात्र मिले उंडेल दूं जिसमें भावुकता तन मन की।
देख तुम्हें समझा मन पागल हमें मिल गया प्राप्य हमारा॥
मैंने तुमको जीवन हारा॥

उमड़ा मेरे उर का सागर तुम बह चलीं किन्तु डरती-सीं,
आगे तो बढ़तीं, पर पीछे रुक कर दृष्टि-पात करती-सीं।
बह न सका मन के अन्धड़ में पत्थर-सा आदर्श तुम्हारा॥
मैंने तुमको जीवन हारा॥

टूट गया सुख-स्वप्न गढ़ूंगा अब मैं मन से प्रतिमा-नारी।
संचित प्यार अनंत छिपी हो जिसमें प्रणय-मधुरता सारी,
खेल सके जिसके अंचल में मेरी तप्त भावना-धारा॥
मैंने तुमको जीवनहारा।
मेरी मधुर कामना मुझको आज बन गई भीषम कारा।

मुझे मुक्ति दो मेरी रानी !

यदपि तुम्हारा प्यार मधुर है मानस में सौरभ भर देता,
पर इस घृणित पींजरे को सह सकते नहीं प्राण अभिमानी।

मैं उस देव-काम्य उपवन का चिर-निर्बंधन अधिवासी हूं,
मुक्त गगन में प्रणत खगी के अभिसारों का अभ्यासी हूं।
ये काली तीलियां देख कर तड़प तड़प कह उठता है मन—
कैसे बनूं दया का भिक्षुक रहा सदैव प्रणय का दानी।
मुझे मुक्ति दो मेरी रानी !

तुम आश्रित-वत्सल हो तुमने तो अपना कर्तव्य निबाहा,
मुझ अपात्र को मिला तुम्हारा पावन स्नेह-दान मनचाहा !
लख कर कृपा-कोर तव अब तक रहा काटता बन्दी-जीवन
पर उद्धत संस्कार, रहूंगा कैसे पाकर दाना-पानी !
मुझे मुक्ति दो मेरी रानी !

यदपि तुम्हारा प्यार मधुर है मानस में सौरभ भर देता
पर इस घृणित पींजरे को सह सकते नहीं प्राण अभिमानी !

गीत (एक आरोपण का उत्तर)

पीड़ा बांधी इन प्राणों से।
अब कहतीं रस शेष हुआ कवि! तेरे काम-मलिन गानों से।
मेरे स्वच्छ मुकुर-से शैशव में अपनी छवि देख हँसीं तुम।
मेरे तुतले छंदों में से ले अपना ही मधु सरसीं तुम।
उन भोली मनुहारों में तुमको निस्पृह पूजा मिलती थी,
भौंरे-से कवि की गुन-गुन सुन अस्फुट उर कलिका खिलती थी।
तेरा अहं तुष्ट होता था, मेरे अश्रु-भरे गानों से।
पीड़ा बांधी इन प्राणों से।
अब कहतीं रस शेष हुआ कवि! तेरे काम मलिन गानों से!

वह शैशव अंगड़ाई लेकर पलट गया है अब यौवन में।
एक भयङ्कर ज्वार उठ रहा, क्षुब्ध वासना-पंकिल मन में—
धूमिल शिशु-इच्छायें मेरी जलने लगीं सप्त-रंगों में
तुम्हें समा लेने की जागी तृष्णा एक अमिट, अंगों में।
अधरों का प्यासा मैं भामिनि, तृप्त न हूंगा मुसकानों से।
पीड़ा बांधी इन प्राणों से।
अब कहतीं रस शेष हुआ कवि! तेरे काम-मलिन गानों से!।

विदा की वेला

मैंने चूम लिये वे लोचन !
रात-दिवस, घण्टे-घड़ियों को
तोड़ काल की दृढ़ कड़ियों को—
आई क्रूर विदा की वेला—
रौंद कामनाओं का मृदु तन।
मैंने चूम लिये वे लोचन !
'जाओगे तो, फिर, जाओ ही,
मुझे भूल जाना—पर, देखो—
मुझे भूलना मत निर्मोही !'
ढुलक पड़े दो आंसू के कन।
मैंने चूम लिये वे लोचन !

: २३ :

विरह-तमिस्रा के सागर में
थके—थाह लेते—बह जाते।
मेरे वाष्प-मलिन नयनों में
आश्रय व्यर्थ खोजने आते ।

लेकर भार अमित पीड़ा का
मूक अचंचल पलक उठाये,
'फिर न मिलोगे क्या परदेसी ?'
पूछ रही थी धूमिल चितवन।
मैंने चूम लिये वे लोचन !!

रेखा-चित्र

यह अति विस्तृत प्लैटफ़ार्म जिसकी चौड़ी छाती पर,
भीम-काय एंजिन, झकझक करतीं गाड़ियाँ भयंकर ।
अगणित संकल्पों से जिनके आलोड़ित उर-अन्तर,
दिशि-दिशि-गामी यात्री जन का उमड़ रहा है सागर ।
यह व्यवसायी हानि-लाभ-गणना में रत अन्तर्मुख,
किसी नवीन सफल पण की ले रहा कल्पना का सुख ।
वह अधिकारी उच्च, सम्हाले गरिमा अपने तन की,
शंकर के कार्टूनों से भर रहा रिक्तता मन की ।
उधर, दूर कोने में बैठे नव दम्पति रँगराते,
मिलन-अधीर मदिर नयनों मे नव मधु-पर्व मनाते ।

सीटी बजी और रेंगी धीमी गाड़ी पटरी पर,
जगे विदा के दृश्य व्यथित खिड़की के बाहर-भीतर ।
स्वाभाविक-कृत्रिम कर-पीड़न शतशत दिए दिखाई,
हिले रुमाल, अधर फड़के, आँखें गीली हो आईं ।
मुझको यह सब लगा अनीप्सित शिष्टाचार-प्रदर्शन
मेरी बुद्धि विजय पर अपनी हँसी सहज मन ही मन !

: २५ :

इतने ही में भीड़-चीर कर वह तेरी परछाईं
मुझे विदा देने को रीती दृष्टि समेटे आई।
मधु-फूलों का हास सिमट बन गया करुण-स्मिति रेखा,
मीलों का व्यवधान पार कर तुमको सम्मुख देखा।
सहम गया मेरा विवेक उस द्रवित मूर्ति के आगे,
मैंने आँखें मूँद तुम्हारे चरण छुए अनुरागे।
तार्किक बुद्धि, विवेक, आत्मसंयम जीवन का बल है,
पर इनसे भी अधिक प्राण की ममता कहीं प्रबल है।

अपने कवि से

जहाँ निद्रा-परियाँ सुकुमार—
उड़ा स्वप्नों के रञ्जित छोर,
रजत-छाया में हर्ष-विभोर
लुटातीं मादक प्यार।
सजल ज्योत्स्ना-अंचल से फूट,
कल्पना बहती अपने-आप।
जहाँ तारों के बुद् बुद् गीत
बूड़ते उतराते चुपचाप—

जगो उस जीवन में सब काल
सुप्त मेरे कवि-बाल।

जहाँ ऊषा का मधुमय हास
बिखरता बन स्वर्णिम गुंजार
नभ-श्री ले व्रीड़ा का भार
क्षितिज के स्वर्णाञ्चल के पार
उतरती है सविलास।

—जहाँ झलमल तितली के बाल
सुरभि के तारों में नादान
उलझ बन जाते पुष्प अजान
मिला देते मधु-प्राण!
हँसें आओ कुछ बैठ सकाल!
चपल मेरे कवि-बाल!!

जहाँ सूनी संध्या के देश!
कुसुम-बालाएँ लेकर प्यास,
सदा को सो जातीं अनजान
चुम्बनों में भर-भर कर प्राण
जगाता फिरता पवन उदास!
—बिछा अपनी पर आस!

जहाँ कोकी का करुण विलाप
बाँध सरिता का सेतु हताश
विकल जाकर प्रियतम के पास
विफल आ जाता है चुपचाप
—चलो गूँथें आँसू की माल!
व्यथित मेरे कवि-बाल!!

: २८ :

जहाँ जीवन का मर्म रुदन
सिहर कर बन जाता गुञ्जन
विफलता बनती आलम्बन
हास बन जाते आँसूकन
अचानक अरमानों की हार
विजय बन जाती है साकार !
न सुन्दर पर ही भूल अजान
सत्य शिव का भी तो कर ध्यान

रुको पावस में तनिक मराल !
रसिक मेरे कवि-बाल !!

१९३४

बिजली

तुम कौन जलद के अंचल में हँस हँस कर यों लुक छिप जातीं
मेरे तमसाकुल प्राणों में भर नई पुलक नव छवि छातीं।
इस काले परदे के पीछे तुम नग्न नटी-सी नाच रहीं,
उंगली के स्वर्णिम इंगित से भव के भावों को जाँच रहीं।

तुम उमड़ा सावन देख आज न्हाने आईं जमुना-तट पर,
रंगिणि, उन चपल कनखियों से निर्जन बेला लख कर सत्वर—
निर्वसना जल में पैठ गईं, लो चमक उठी कंचन-काया।
मेरा कवि दृष्टि बचा कर के चुप चुप यह दृश्य चुरा लाया!

किस स्वर्ण-सौध से सुप्त तुम्हें हर लाया यह दानव काला—
क्या लगा रूप का पाप तुम्हें, बन गई गरल मादक हाला?
बन प्रेयसि तुम वन्दिनी बनीं, इस मेघ दैत्य के बंधन में
युग युग से तड़प रहीं तन्वी! पीड़ित निर्दय आलिंगन में।

: ३० :

इस काले तम का हृदय चीर अविराम प्रणय की आग लिये,
किसको अन्धड़ में ढूंढ़ रहीं आंखों में ज्वलित सुहाग लिये ?
यह दुख-सी काली रात, तुम्हारे प्राणों में अभिसार भरा !
ठहरो इस बादल के बन में, उन्मत्त पिशाचों का पहरा !
तुम कौन जलद के अंचल में हँस-हँस कर यों लुक छिप जातीं ?
मेरे तमसाकुल प्राणों में भर नई पुलक, नव छवि छातीं ?

नारी

विश्व-सृजन के पहले पल में कामानल-संतप्त शरीर—
बाहु-पाश में भर वसुधा को नभ ने गुप्त मंत्र गम्भीर—
फूंका ज्यों ही शून्य मूर्तता में अमूर्तता भर साकार
शाश्वत से चेतन को बांधे देवि, हुआ तेरा अवतार !

प्रथम श्वास लेते ही तेरे, लहरीं जग में सुरभि-तरंग,
देख प्रथम मुसकान विश्व के अंग अंग में आये रंग !
ऊषा ने मधुमय लाली ली, और सांझ ने स्वर्ण अपार,
चंदा ने चांदी की आभा ऋतुओं ने चित्रित शृंगार !

किंतु प्रथम बंकिम चितवन जब डाली, तुमने जग की ओर,
कांप उठा ब्रह्माण्ड शून्य में उठने लगीं अनंग-हिलोर।
सरिता को उर में भरने को हुआ विलोड़ित सागर-नीर—
चमक उठी विद्युत् मेघों में बिंधे धरा में केशर-तीर !

पर जब तेरी रूप-ज्वाल को विश्व न पल भर सका सँभाल,
अपने को झट दो अंगों में बांट लिया तू ने तत्काल।
होने लगा पृथक् उस क्षण से ओज माधुरी का सम राज,
नर ने लिया रुधिर का प्याला, तुमने मधु मदिरा का साज!
मादक अंग उभार, अर्ध-मीलित नयनों से लख सविलास,
उस हिंसक पशु नर को पल में बना लिया चरणों का दास!

सुधा अधर में; विष आंखों में; आंचल में पयस्विनी धार,
देखा इस छोटे-से तन में जग ने सृजन, भरण, संहार।
मूर्तिमती कविता कवियों ने भक्तों ने राधा अभिराम,
निर्गुण-ज्योति विरत योगी ने साधक ने चिर-मुक्ति ललाम!

बनी अप्सरा स्वर्ग-लोक में स्वप्न-लोक में परी अजान,
वन्य लोक में लता लचीली, वरुणों में सरिता गतिवान।
मर्त्य-लोक में बन व्रज-बनिता की ज्यों ही माया-विस्तार
निर्विकार भी रूप-लुब्ध हो बना स्वयं मानव सविकार!

कितनी अग्नि-परीक्षाएं दीं, और लिये कितने वनवास,
पर यम से भी छीन लिया था, तुमने पुरुष काल का ग्रास!
करुणा तेरे अश्रु-विन्दु से द्रवित हृदय से भक्ति उदार,
संयम तेरे आत्म-दमन से हुआ सहन से क्षमा विचार।

जिस झांकी को सिन्धु-मथन कर देख विमोहे सुर-दानव,
जिस झांकी को लख, कर उठते बेसुध प्रलय-रुद्र ताण्डव।
जिस झांकी पर वार दिया कवियों ने अमर-लोक का राज,
उस झांकी को दिखा एक पल मुझ को मत्त बना दे आज!

शरद की रात

आज चाँदनी बरसी !
लो उदित हुआ यह चाँद जवानी में निखरा—
काली माटन का अवगुण्ठन ज्यो हटा
निरावृत फ़ारस का मुख-चन्द्र हँसी की सुरा-भरा !
शरद की
यह सुहाग की रात, मोतियों से झलमल
फूलों की शैया सजी प्रकृति ने स्वीगोज्ज्वल !
ऋतुओं की रानी फैंक तारकों की जाली,
अर्पित करती मृदु अंग अनावृत कुंद-धवल !

हंसों से मेरे प्राण चाँदनी में न्हाये
पाने को तव हिम-हास आज आकुल-चञ्चल
(ऐंद्रिय-लिप्सा से मुक्त, शुद्ध, सात्विक, निर्मल !)
पर तुम प्राणों की मित्र ! दूर शत-शत योजन
हैं अड़े बीच दुर्गम पर्वत, बीहड़ निर्जन,
अगणित नदियों के जाल, ग्राम श्रम से बोझल,
कर्फ्यू से जकड़े नगर पड़े जड़, भीत, अचल !

× ×

: ३४ :

यमुना का झिलमिल वक्ष, चाँदनी से चर्चित,
यह श्री-शोभा का पर्व, स्वप्न-मधु से अर्चित,
कविता का तन्मय पाठ, आत्म-रस से भीगा,
स्नेही मित्रों का साधुवाद, प्रतिभा-मुखरित !
ये सब अक्षम उपचार, भरेंगे क्या अभाव ?
इस भाव-भरे मानव-उर को चाहिये भाव !!

तुमने नयनों में मदिर नयन ये उलझा कर,
बौद्धिकता का चिर-गर्व आज शत खण्ड किया !

तैंतीस वर्ष की हुई आयु, पक गई बुद्धि,
नव देश देश के गहन वाङ्मय से समृद्ध !
'है प्रणय प्राण का चिर-जन्मागत संस्कार,
दो आत्माओं का निलय परस्पर समाहार !'
यह केवल कविता, शुद्ध कल्पना की प्रसूति,
है प्रणय काम-व्यापार काय-मन की विभूति !
सुन्दर-शब्दों का जाल रुचिर आदर्शवाद
भावुक मानस का फेन मधुर कुण्टा प्रसाद !
भोले किशोर-वय छात्रों शोभा देता
पर मैं मनका विश्लेषक फ्रॉयड-अध्येता !

तुमने नयनों में उलझाकर प्रिय ! सजल नयन
बौद्धिकता का यह गर्व आज शत खण्ड किया !

मैं यज्ञ-पूत गृह के संस्कारों में पोषित।
आत्मिक गुरुओं से पाई दीक्षा आर्योचित।
वैदिक विधि से मनु से सीखी गार्हस्थ-नीति
शिक्षा से संयम, कुल-गौरव से पाप-भीति।
'वामना हृदय का नरक और आवेश पाप।
षड् रिपुओं में काम का प्रखरतम है प्रताप!
पत्नीव्रत हो संयमी गृही शासित रहता
शम दम की सीमा में जीवन का रस बहता।'
तुमने अधरों में उलझा कर प्रिय! मधुर अधर
नैतिकता का यह गर्व आज शतखण्ड किया।

मैं भाव-कल्पना का स्वामी कवि अभिमानी
उर मे जिसके लहराता सागर तूफ़ानी,
जिसका उन्नत मस्तक हिमगिरि से टकराता
उद्धत अरमानों का अंधड़ से है नाता।
मुझ से चंदा की रानी ने अभिसार किया,
पाटल अवगुण्ठन खोल उषा ने प्यार किया।
मम स्वप्नों की संगिनी जगत की श्री-सुषमा,
वासवदत्ता, उर्वशी सदृश रस की प्रतिमा।
करती जीवन-शृंगार स्वयं भगवति वाणी!
मैं भाव-कल्पना का स्वामी कवि अभिमानी
उर में मेरे लहराता सागर तूफ़ानी!!
तुमने बांहो मे उलझा कर प्रिय बांह मृदुल
मेरे कवि का चिर गर्व आज शत-खण्ड किया!!

ओ पुरुष के गर्व !

ओ, पुरुष के गर्व !
तूने नाप डाला दो पगों से रे, गगन निस्सीम का विस्तार !
तूने चीर डाला नोक से नख की, जलधि का गर्भ गहन अपार !
तूने तोड़ डाला चाप से उत्तुंग पर्वत-शिखर का अभिमान !
तूने झेल हाथों पर लिया गुर्वी धरा का अतुल भार, निदान !
क्या तुझे बन्दी बना लेंगे भुजा के पाश ?
कम्पित बाहुओं के पाश !!

ओ, पुरुष के ज्ञान !
तेरी प्रखरता ने हृदय अणु-परमाणु का भी सहज डाला चीर,
तेरी सूक्ष्मता ने भेद डाले सत्य के शत-शत रहस्य गभीर,
तेरी गहनता में काल-सीमा के सभी प्रस्तार शांत, निमग्न,
तेरी ज्योति में वे ब्रह्म, माया, जीव के सब तत्व होते नग्न !
क्या भुला लेगी तुझे वह मोहमय मुसकान ?
चञ्चल मोहमय मुसकान !!

: ३८ :

ओ, पुरुष की भक्ति !
तूने कर दिया चिर शून्य में नव प्राण का संचार,
तूने दान करदी कल्पना को, एक धूमिल कल्पना को, व्यक्ति औ' आकार,
तेरी उष्णता से गल उठा चिर-शापमय पाषाण,
तेरी भावना ने कर दिया प्रत्येक कण भगवान !
क्या बहा देगी तुझे लघु आँसुओं की धार ?
फीके आँसुओं की धार !!

निस्पृह दुलार

तुम निस्पृह होकर मांग रहीं मेरा दुलार !
चिर-शुद्ध, अचंचल शास्त्र-सिद्ध, शुचि निर्विकार
'है स्नेह दुग्ध की धार सहज शुभ आत्म-द्रव
जीवन का अक्षय पुण्य, सतोगुण का उद्भव !
पर ऐन्द्रियता की एक बूंद पड़ गई कहीं
हो जाएगा वह विषम वासना विष रौरव !'
ये अटल नीति के वाक्य तुम्हारे चेतन पर
शिक्षा, दीक्षा, संस्कारों ने, गहरे जाकर
हैं आंक दिये जीवन के मानो चरम सत्य
मानव-मन के चिर-मन्थन के अंतिम अपत्य !
तुम कहती हो तब मन में मेरी पुण्य मूर्ति
शोभित ज्यों स्फटिक-वेदिका पर विग्रह उज्ज्वल—
ज्योतित कर शत-शत दीप स्नेह-घृत से पोषित
नीराजन-से तव प्राण जल रहे हैं अविरल !

× × ×

सरले ! ये सुन्दर काव्य-चित्र, ये दिव्य भाव,
हैं मन की मधुमय भ्रांति चेतना के भुलाव !
यह स्वप्न मुग्ध कौमार्य तुम्हारा चिर-सलज्ज
सम्मुख सह सकता नहीं सत्य का नग्न-रूप !
शत-रंगे परदे डाल कल्पना के झीने
करना है ज्वलित वासना का असफल दुराव !
सरले ! ये सुन्दर काव्य चित्र ये दिव्य भाव
हैं मन की मधुमय भ्रांति चेतना के भुलाव !!

तुम निस्पृह होकर माँग रही मेरा दुलार
चिर-शुद्ध अचंचल शान्त्र-सिद्ध शुचि निर्विकार !

किसने मेरी नींद चुराली ?

दूर गगन के कोने में जो चमक रहा ध्रुव-तारा
युग-युग से अज्ञात प्रिया का देख-देख पथ हारा।
जब फूलों के खेल खेलते हँस-हँस चाँद सितारे
वह एकाकी बाट जोहता अपलक-दृग मन मारे।
अरुण हुए आती जब ऊषा ले कुंकम की थाली
अंचल पकड़ पूछता तारा किसने मेरी नींद चुराली ?

बही जारही अविरल गति से यह सरिता की धारा
पर अपने अनजान निठुर का रूप न कभी निहारा।
रात गये चूमे कोकी ने पिय के नयन निंदारे,
पर पल भर भी मिले नहीं सरिता के युग्म किनारे।
जब कलियों के स्वप्न पोंछती मलय पवन मतवाली
अंचल पकड़ पूछती सरिता किसने मेरी नींद चुराली ?

: ४२ :

जब मेरे वसंत में पिक ने पहली बार पुकारा,
गमक उठा उर के सौरभ से जीवन-कानन सारा।
मायाविनि ! तुम हुईं उदित सहसा मन के अम्बर में
एक नयन में गरल दूसरे में अमृत की धारा !
सजग चेतना पर बुन दी ऐसी स्वप्नों की जाली
मैं अब तक भी जान न पाया किसने मेरी नींद चुराली ?

सोचता हूँ किस तरह जीवित रहे ये प्राण !

प्राण ! जब तक तुम नहीं मुझको मिली थीं—
सोचता हूं किस तरह जीवित रहे ये प्राण !

हृदय में लेकर अपरिमित दाह, बाड़व दाह
युग-युगों से जल रहा था तृषित सिन्धु अथाह,
एक दिन सरिता अचानक आ मिली अनजान
पूर्व - जन्मों की यथा भूली हुई पहचान !
बांध शत शत बाहुओं में तरल-कोमल गात—
कण्ठ-गद्‌गद् कह उठा सागर गभीर महान :
'प्राण ! जब तक तुम नहीं मुझको मिली थीं,
सोचता हूँ किस तरह जीवित रहे ये प्राण !

पार कर सागर, सरित, सर, गिरि, गहन कान्तार,
चला तरुण समीर ले सूनी व्यथा का भार !
पंथ में सहसा सुरभि से होगया साक्षात्
तड़प विद्युत सी गई पिछली प्रणय की बात।
तृषित सो-सौ सांस मे पीकर उसे, हत-ज्ञान—
कण्ठ-गद्‌गद् कह उठा बेसुध तरुण पवमान :
'प्राण ! जब तक तुम नहीं मुझको मिली थीं,
सोचता हूं किस तरह जीवित रहे ये प्राण !'

: ४४ :

एक युग से थका जीवन भूत-रत निष्प्राण
चल रहा था कर्म-विजड़ित शिशिर-सा म्रियमाण !
तुम मधुर मधुमास की पहली किरण अज्ञात
हँस पड़ीं, मन में हँसे शत शत वसंत प्रभात !
बांध सौ सौ भावनाओं में तुम्हें छविमान !
सोचता हूं—'प्राण जब तक तुम नहीं मुझको मिली थीं
किस तरह जीवित रहे ये प्राण !'

आज का कवि

है शिशिर-निशा का मध्य प्रहर—
निस्तब्ध, शीत-विजड़ित मलीन !
अंबर की मैली कन्था में सोगया धूलि से भरा हुआ
श्रम-क्लान्त जगत का कोलाहल !
सो रही राजधानी अचेत प्रौढ़ा-सी लेकर
युग-युग से अपना सयत्न-रक्षित यौवन—
कितनी चिन्तायें लिप्सायें सुख-दुःख छिपाये अंतर में।
सोये हैं थक कर राजमार्ग निष्ठुर पद-घातों से विह्वल,
बस अभी-अभी सोये हैं मिल—जैसे मदपायी हों सोये
धूंए के उगल-उगल बादल !
सोईं ये दुर्धर प्राचीरें अपना अस्थिर इतिहास लिये,
सो गये नगर के भद्र-भवन चिरचञ्चल हास-विलास लिये।

× × ×

मैं देख रहा हूँ लाल किला
दिल्ली का चिर-चेतन प्रहरी—
उसकी आँखों में नींद कहां ?

उसने देखा चित्रित वैभव !
जब नीलम के अवगुण्ठन में झिलमिल तारों से लदी रात
मांसल पौरुष पर मुग्ध लुटा जाती थी सपने शिथिल गात।
नीचे रेशमी शिलाओं पर यौवन की मादकता बिछली
मद से विह्वल, मधु में लिपटी, सौरभ से अन्धी, सुरास्नात !
उन नाज़भरी सुन्दरियों के चञ्चल चरणों को चूम-चूम
घुल जाता था मखमल सुख से हँस-हँस पड़ते थे चित्र फूल

होठों की लाली में रँग कर
निस्सृत होते शृंगार-गीत,
जैसे गुलाब से गंध—
अगरु से धूम !
और मद से उफान !

मेरी आँखों में झूल गए हम्मामों के वे मूक दृश्य !
जल की चल लहरों से उठ कर
जब नंगी परिमल की परियाँ,
सहमी-सी न्हाने वाली को
हँस कर देती थीं आमन्त्रण।
लो पल में खिसक गया आंचल,
खिसका तरुणी का अधोवसन—
जल चञ्चल हुआ परस पाकर
जगमगा उठा एकांत भवन।

एकान्त भवन !
जैसे योगी, तम से आवृत समाधि तज कर—
हो घूर रहा सुन्दरता को आँखों में काम-शिखायें भर।

× × ×

इतने में घर-घर शब्द हुआ,
रजनी का नीरव वक्ष चीर घर्राया नभ में वायुयान।
अंतर्चेतन में छिपे हुए सब खड़े होगए मूर्तिमान—
मोटे हरफ़ों में लिखे हुए पत्रों में रण के समाचार।
झट टूट गया रेशमी तार!

चेतन के वे रंगीन स्वप्न
पंखों को तोल उड़े नभ में,
रह गया चकित निस्सम्बल मन
फिर विफल हुए सब आवाहन।

असहाय, आह, इस युग का कवि!
वह जूझ नहीं सकता दुख से!
वह भाग नहीं सकता दुख से!
वह भूल नहीं सकता दुख को!